



रूसी से अनुवाद

भारतीय साहित्य की एकता

येव्गेनी चेलिशेव

अनुवादक : प्रशांत कुमार

दिल्ली विश्वविद्यालय

नई दिल्ली, भारत

परिचय

येव्गेनी चेलिशेव रूसी साहित्यकार हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन किया है। भारतीय साहित्य के विकास पर उनका गहन-गंभीर अध्ययन हिंदी और हिंदीतर भाषियों के लिए चिंतन के नए गवाक्ष खोलेगा मूल रूसी भाषा में लिखे इस विश्लेषण का अनुवाद प्रशांत कुमार ने किया है। यह आलेख भारतीय साहित्य के विकास के विविध सोपान को समझने में सहायक है।

भूमिका

क्या भारतीय साहित्य भारत की साहित्य अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं में रचित साहित्य का योग है या विभिन्न रूपों में प्रगट होता एक ही साहित्य है ? श्रीनिवास आयंगर द्वारा उठाया गया यह प्रश्न सैद्धांतिक महत्त्व का है और आज इस प्रश्न का एक -सा उत्तर दे पाना उतना आसान नहीं।

आयंगर उन भारतीय विद्वानों में से एक हैं जो मानते हैं कि बहुभाषिता, अभिव्यक्ति के विभिन्न जातीय साधनों, विधागत रूपों की विविधता, साहित्यिक आंदोलनों की अनेकता के बावजूद भारतीय साहित्यों में एक सुनिश्चित वैचारिक व सौंदर्यात्मक निस्संदेह जातीय विशिष्टताओं के साथ-साथ भारतीय जन समुदायों के साहित्यों में ऐसी समानताएं भी निहित हैं जो भारत में रचित साहित्य के लिए भारतीय साहित्य की परिकल्पना को सशक्त आधार प्रदान करता है।

भारत के बहुजातीय साहित्य के निर्माण और विकास में भारत की सांस्कृतिक एकता रूपायित

हुई है। इस देश की सांस्कृतिक एकता के विचार को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं, सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रगतिशील कार्यकर्ताओं ने उठाया व प्रोत्साहित किया था क्योंकि जैसा अ.दयाकोव ने लिखा है, “अंग्रेजी औपनिवेशिक प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष में एक होने में सहायक हुआ था।” भारत के लोगों के बीच भाषा व जातिगत विभिन्नताओं को स्वीकार करते हुए जवाहरलाल नेहरू इस पर बल देते थे कि “अनेकों शताब्दियों के बाद भी वे समान राष्ट्रीय धरोहर व मानसिक और नैतिक विशेषताओं के साथ भारतीय ही रहे... सभ्यता के प्रादुर्भाव के युग से ही भारतीय मानस में एकता का यह सपना हमेशा रहा है।

भारतीय साहित्य और रवीन्द्र नाथ टैगोर अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता की यह भरसक कोशिश रही है कि भारतीय समुदाय हमेशा विभाजित रहे, सांस्कृतिक एकता का विचार देश में लोकप्रिय न हो पाए। ऐसी कोशिशों का भारत की प्रगतिशील शक्तियों ने विरोध किया।

उदाहरण के लिए रवीन्द्र नाथ टैगोर को दुख के साथ कहना पड़ा कि 'भारत का बुद्धिजीवी वर्ग अपने आत्मिक अलगाव से मुक्त नहीं हो पाया है।' उनका कहना था कि "सर्वसमान साहित्य की अनुपस्थिति ने भारतीयों के बीच पहले के जीवंत संबंधों को तोड़ डाला है। सर्वसमान साहित्य इसलिए नहीं रह पाया क्योंकि राष्ट्रीय एकता का ही ताना-बाना टूट गया था।"

औपनिवेशिक भारत में देश की सांस्कृतिक एकता के विचार को बल प्रदान करने में रवीन्द्र नाथ टैगोर को विशेष श्रेय जाता है। उन्होंने लिखा कि "मध्ययुग के आलोकहीन अंधकार में भी भारत की एकता के स्वर सुनाई पड़ते हैं। एकता के समर्थक लोग ऐसे पक्षियों की तरह थे जो प्रभात होने से पहले जागते हैं और चुपचाप लेटी पृथ्वी के ऊपर आकाश में नए दिन के स्वागत में गीत गाते हैं।" कबीर और दादू दयाल जैसे भक्त कवियों का नाम लेते हुए टैगोर आगे लिखते हैं , "एकता का यह मार्ग विशिष्ट भारतीय पथ है , जिसे हमारे युग में राममोहन राम राय ने फिर उद्घाटित किया है... उन्होंने मुस्लिम , हिंदू और ईसाई, सब भारतीयों को सबके लिए उपलब्ध इस पथ पर आने का आह्वान दिया , जहां सब एक दूसरे से हिल-मिल सकते हैं। यदि हम राममोहन राय द्वारा बताए रास्ते पर ना चलें , यदि हम मान लें कि अलगाव भारतीयों की चिरंतन विशेषता रही है , तो हमारा एक राष्ट्र के रूप में शीघ्र ही अंत हो जाएगा।"

विश्व बंधुत्व , 'मानव एकता ' या 'व्यष्टि व समष्टि' के रहस्यात्मक संबंधों जैसी हिंदू दर्शन की पारंपरिक अवधारणाओं की भाववादी अंतर्वस्तु के बावजूद टैगोर की विश्व दृष्टि के ये पक्ष भारत के विभिन्न जन समुदाय में एकता के विचार को दृढ़ता प्रदान करने में वस्तुतः

सहायक रहे हैं। आंशिक रूप में ये विचार भारत के राष्ट्रगीत 'जन-गण-मन' में स्पष्टता से व्यक्त हुए हैं।

अन्य जनवादी देशभक्तों की तरह टैगोर ने भी अपने देशवासियों के औपनिवेशिक उत्पीड़न के विरुद्ध एकता का आधार प्राचीन भारत की धार्मिक-नैतिक विचारों में खोजने की कोशिश की। भारत की सांस्कृतिक एकता

देश की सांस्कृतिक एकता को देखने का भारत में एक और दृष्टिकोण है, जो धार्मिक विचारधारा से संबद्ध है। लेकिन उसमें टैगोर की एकता विषयक मानववादी अवधारणाओं में कोई समानता नहीं है। इस तरह के दृष्टिकोण का सारतत्व इसमें निहित है कि 'भारतीय संस्कृति की अखंडता ' और 'इस तीव्र परिवर्तनशील संसार में उसकी स्थाई व स्थिर विशेषताओं ' को उनका सबसे पहले हिंदुत्व से अभिन्न रूप से जुड़ा होना निर्धारित करता है। भारतीय साहित्यकार गुरुदत्त के शब्दों में हिंदुत्व से संबद्ध संस्कृति ही "सर्वाधिक परिपूर्ण है क्योंकि वह जीवन के सार्वभौमिक व शाश्वत सत्य पर आधारित है। " इस तरह के धार्मिक-सांप्रदायिक विचार , जो हिंदू धर्म को भारत के अन्य धर्मों के विरोध में खड़ा करने, 'भारतीय संस्कृति' को 'हिंदू संस्कृति' का पर्याय समझने में आधारित है , देश की सांस्कृतिक एकता के विचार को ही बहुत बड़ा नुकसान पहुंचाते हैं।

भारत में इस संस्कृति की राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का भी प्रसार हो रहा है, जो अंशतः विभिन्न जातीय संस्कृतियों की विशिष्टता को अतिरिक्त रूप से रेखांकित करती है और यह प्रमाणित करने की कोशिश करती है कि इन संस्कृतियों के अंतर-संबंधों के कारण उनका मूल चरित्र नष्ट हो रहा है। इस तरह की संकीर्ण राष्ट्रवादी प्रवृत्तियां

पश्चिम के बुर्जुआ भारतविदों की इस तरह के मान्यताओं से मेल खाती है, जिनके अनुसार भाषाई, जातीय व सांस्कृतिक विविधताओं के कारण भारत एक देश नहीं है। इससे आगे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि धर्मों, जातियों, नस्लों वह दूसरे अंतर्विरोधों द्वारा विभाजित भारत को एकता प्रदान करने में अंग्रेज ही समर्थ थे। यहां यह उल्लेख किए बिना नहीं रहा जा सकता कि इस तरह के विचारों की प्रतिध्वनि भारतीय विद्वानों की ऐसी मान्यताओं में भी सुनाई देती है, जो 'भारतीय-राष्ट्रीय साहित्य' के निर्माण का श्रेय अंग्रेजों को देते हैं।

भारत के प्रगतिशील सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता, विद्वान, लेखक भारतीय संस्कृति की एकता की संकीर्णतावादी व्याख्या का विरोध करने के साथ-साथ उसे यूरोप केंद्रित या जाति विशेष से संबद्ध मानने से इंकार करते हैं। उन शक्तियों व प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिए वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है, जो भारतीय जन-समुदाय के साहित्यों को एकता के सूत्र में बांधती है।

प्राचीन साहित्य, साहित्य ही नहीं बल्कि पूरी सांस्कृतिक धरोहर भारतीय जन समुदायों के साहित्यों को एकताबद्ध करने का सदियों पुराना साधन रहा और आज भी है। प्राचीन साहित्य की इस विशेषता की ओर ठीक ही भारतीय साहित्यकार ध्यान देते रहे हैं। प्राचीन साहित्य की कालजयी कृतियां वास्तव में प्रेरणा का अक्षुण्ण स्रोत रही हैं और भारत के विभिन्न भाषाई साहित्यों को एकता प्रदान करने में उनकी महान भूमिका रही है।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत की सांस्कृतिक धरोहर आज भी साहित्य की बहुत मंजिलों की इमारत व तरह-तरह की ऊपरी

संरचनाओं की नींव है। और सिर्फ भारतीय साहित्य की ही नहीं, दक्षिण व दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साहित्यों के संदर्भ में भी यह कथन समान रूप से प्रासंगिक है। यहां यह रेखांकित करना आवश्यक होगा कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में हर चीज जीवंत और रचनात्मक नहीं है। केवल जनवादी, मानववादी परंपराएं ही भारतीय साहित्य के विकास और समृद्धि में सहायक हो सकती हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य, सांस्कृतिक धरोहर से हमारा अभिप्राय भारत के उत्तरी व केंद्रीय भागों में फैली तथाकथित आर्य सभ्यता तक ही सीमित नहीं, जैसा कि कुछ विदेशी विद्वानों का रहता है। यहां हमें भारत के प्रगतिशील चिंतकों के विचार तर्कसंगत लगते हैं। उदाहरण के लिए टैगोर की यह मान्यता रही है कि 'जिन तत्वों से भारत की समकालीन संस्कृति का निर्माण हुआ है, वह सभी संस्कृत की संस्कृति में समाहित नहीं हो सकते।" इस महान चिंतक का यह विचार भारत के अन्य विद्वानों की कृतियों में विकसित हुआ है। भगवतशरण उपाध्याय:

'भारतीय संस्कृति के स्रोत' में भारतीय संस्कृति को विभिन्न सांस्कृतिक, आध्यात्मिक व भौतिक मूल्यों का जटिल संश्लेषण के रूप में देखते हैं, जिसे भारत के सभी जन समुदायों के सम्मिलित प्रयासों व भारतीय भूमि में घर कर गए विदेशी प्रभाव ने संभव बनाया है।

भारतीय जन समुदायों के साहित्य में इसी तरह की प्रक्रियाएं अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं से जुड़ा होने के कारण मध्ययुग में भी विकसित होती रहीं। बहुत से साहित्यों में संस्कृत महाकाव्य के अनुरूप वीर काव्य सशक्त विधा के रूप में पनपा। नाथ संप्रदाय के कवियों की रचनाओं का स्रोत लोकमानस में ही निहित था,

उनके धार्मिक रहस्यवादी स्वरो में उच्च जातियों के प्रभुत्व व समाजिक असमानता के विरुद्ध जन-समान्य का विरोध प्रगट हुआ।

15वीं और 16वीं शताब्दियों में भारत के आध्यात्मिक जीवन में मानववादी प्रवृत्तियों का तीव्र विकास हुआ, जो भक्ति व सूफी काव्य व भारतीय संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में प्रगट हुआ और यह विकास हिंदू व मुस्लिम संस्कृतियों के मेल का परिणाम था। रामविलास शर्मा ठीक ही लिखते हैं कि “मुस्लिम दार्शनिकों और कवियों ने स्थानीय भाषा व संस्कृति ग्रहण करके हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर किया और इस तरह जातीय संस्कृति व जातीय चेतना की नींव को दृढ़ता प्रदान की। ” कुछ सोवियत व भारतीय विद्वान कोरेनेसा की संस्कृति व इन प्रवृत्तियों में बहुत समानता दिखाई देती है। हिंदी में... कबीर, सूरदास, तुलसीदास... मराठी में... नामदेव व एकनाथ, बांग्ला में चंडीदास व कीर्तिबोस ओझा। पंजाबी में... गुरु नानक, असमिया में... शंकरदेव, गुजराती में... नरसिंह मेहता, मैथिली में... विद्यापति ठाकुर, मलयालम में... अच्युत्ताचन जैसे भारत के जातीय साहित्यों की नींव रखने वाले कवियों ने भारत की प्राचीन आध्यात्मिक धरोहर का सहारा लिया है और अपने कृतित्व में मानववादि और लोकवादी विचारों को अभिव्यक्ति देने के लिए लोकमिथकों, कथानकों व विंबों का बहुत उपयोग किया। देश के विभिन्न भागों में इस काल में ‘रामायण’ व ‘महाभारत’ ‘भागवत पुराण’ पर आधारित कृष्ण विषयक रचनाओं ने भारतीय साहित्यों को एक दूसरे के समीप लाकर वैचारिक को कलात्मक एकत्व प्रदान किया। मध्ययुग के साहित्य की इस विशेषता का बहुत से भारतीय विद्वानों ने उल्लेख किया है।

इस प्रकार भारत में साहित्य की विकास प्रक्रिया के आरंभिक चरणों में भौगोलिक, सजातीय, धार्मिक व भाषाई उपादानों के साथ-साथ क्लासिकी व लोक साहित्यों की समानताओं ने विभिन्न साहित्यों को समीप लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यहां पर उल्लेख करना आवश्यक है कि अतीत के निर्मित ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंध, विभिन्न साहित्यों के बीच की समानताएं अपनी समस्त ओजस्विता के साथ आज भी विभिन्न रूपों में देखी जा सकती है। भारत में पूंजीवादी समाज के निर्माण की आरंभ हुई प्रक्रिया को 19वीं शताब्दी के साहित्य ने विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों के बावजूद स्पष्टता से प्रतिफलित किया और जिसके विकास की मुख्यधारा देश के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास की दिशा के अनुरूप ही थी। संस्कृति के विकास की इस धारा को भारतीय विद्वान प्रायः ‘रेनेसा’ का नाम देते हैं, जो हमारी दृष्टि में अधिक तर्कसंगत नहीं। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध व 20वीं शताब्दी के आरंभ में साहित्य पर हुए अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस अवधि के साहित्य में ऐसी बहुत सी विशेषताएं हैं जो ‘एनलाइटमेंट’ के साहित्य में देखी जा सकती है। नए साहित्य के विकास के पथ की तलाश में भारतीय साहित्यकार पाश्चात्य साहित्य की ओर मुड़ते हैं, जो टैगोर के शब्दों में भारतीय साहित्य के ‘विकास को नया मोड़ देने’ में सहायक रहा। विश्व साहित्य और भारतीय लेखक विश्व साहित्य के अनुभव के रचनात्मक उपयोग ने भारतीय लेखकों को अपनी जातिगत संवृत्ति से मुक्त होने में सहायता की, उनके कृतित्व को विश्व के मानववादी विचारों, कलात्मक उपलब्धियों व विश्व साहित्य की नव्यता से

समृद्ध किया। इस तरह की प्रवृत्तियां रवीन्द्र नाथ टैगोर, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, मोहम्मद इकबाल, प्रेमचंद, वल्लातोल, नजरुल इस्लाम जैसे विश्वविख्यात एवं समकालीन भारतीय साहित्य की आधारशिला रखने वाले लेखकों में देखी जा सकती हैं।

19वीं शताब्दी के अंत व 20वीं शताब्दी के आरंभ में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन उदारपंथी बुद्धिजीवियों के सीमित क्षेत्र से बाहर वृहद जनसमुदाय में फैल रहा था, भारतीय साहित्य में औपनिवेशिक सत्ता के विरोध व सामाजिक बुराइयों की आलोचना के स्वर उठने लगते हैं।

भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा की खातिर सांस्कृतिक धरोहर के पुनर्मुल्यांकन के राष्ट्रवादी विचारधारा के जनवादी पक्ष द्वारा किए गए प्रयास साहित्य में भी पूरी स्पष्टता के साथ प्रगट हुए। प्राचीन मिथकों के पारंपरिक बिंबों की देशभक्त लेखकों ने पुनर्रचना की, उन्हें देश के सामाजिक-राजनीतिक जीवन द्वारा प्रदत्त प्रासंगिक अंतर्वस्तु और अर्थवत्ता प्रदान की।

भारतीय साहित्य में इस धारा के प्रवर्तक प्रख्यात बांग्ला कवि व नाटककार मधुसूदन दत्त (1824-1873) थे, जिन्होंने 'रामायण' की कथानक पर आधारित 'मेघनाथ की मृत्यु' शीर्षक वीरकाव्य की रचना की, जिसमें कवि ने मातृभूमि की स्वतंत्रता के संघर्ष व दुश्मनों की जीत हासिल करने के लिए कुर्बानी देने का आह्वान किया।

भारतीय जनता में राष्ट्रीय गौरव का संचार करने, औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध संघर्ष में एकता लाने के उद्देश्य से भारतीय साहित्य में देशभक्तिपूर्ण रचनाएं अधिकाधिक लिखी जाने लगीं, जिनमें ऐतिहासिक उपन्यासों का विशेष स्थान है और जिनके प्रवर्तक प्रतिभाशाली बांग्ला गद्यकार बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय (1838-1894)

को माना जाता है। उन्होंने अपनी रचनाओं का आधार भारत के इतिहास की उन घटनाओं को बनाया, जो जनता में देशभक्ति व राष्ट्रीय सम्मान के भाव जगा सकें।

दत्त, चट्टोपाध्याय की कृतियों का, जिन्होंने डॉ नगेंद्र के अनुसार "सामाजिक जीवन व साहित्य में वास्तविक क्रांति लाई" भारत की अन्य भाषाओं में अनुवाद होने लगा। बहुत लेखकों के रचनात्मक जीवन का आरंभ बांग्ला साहित्य के अनुवाद व अनुकरण करने से हुआ।

यों 19वीं शताब्दी में भारतीय साहित्य के विकास की परिस्थितियां एक सी थीं, पर विकास के नए पथ पर बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु जैसे क्षेत्रों का साहित्य पहले आया, जहां आर्थिक व सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र व सघन रही, अर्थात् जहां पूजीवादी जातियों का तेजी से निर्माण हो रहा था। अन्य साहित्यों की अपेक्षा बांग्ला साहित्य में उपन्यास, कहानी, लेख, कामदी, समालोचना जैसी विधाओं ने पहले जड़ें जमाईं। अततरु 19वीं व 20वीं शताब्दी के आरंभ के भारतीय साहित्य द्वारा अर्जित अनुभव में बांग्ला साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

बांग्ला साहित्य के बाद उपन्यास विधा भारत के अन्य साहित्यकारों, मराठी के रामचंद्र गुर्जीकर व हरिनारायण आप्टे, गुजराती में... नर्मदा शंकर व नंदशंकर, उर्दू में. अब्दुल खलीम शरर, हिंदी में... वृंदावनलाल वर्मा जैसे लेखकों की कृतियों के माध्यम से लोकप्रिय होने लगी।

मधुसूदन द्वारा बांग्ला काव्य में मिथकों व प्राचीन महाकाव्यों के बिंबों को आधुनिक अंतर्वस्तु प्रदान करने की परंपरा को असमी साहित्य में- भोलानाथ दास, उडिया में- राधानाथ, तेलुगु में- गुर जाद अप्पाराव, हिंदी में अयोध्या

सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' व मैथिलीशरण गुप्त ने आगे बढ़ाया।

साहित्य की राष्ट्रीय धारा

भारतीय साहित्य के राष्ट्रीय धारा की दिशा में एकीकरण में देश में बढ़ते हुए राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस आंदोलन के विचार भारतीय लेखकों के कृतित्व में सर्वत्र गूँजते हैं, जो विभिन्न कविताओं विधाओं व रोमानी और प्रतीकात्मक रूप में समाहित हुए। रोमांटिसिज़्म का प्रादुर्भाव व विकास सबसे पहले बांग्ला साहित्य में हुआ। इस धारा का सामाजिक सार तत्व सामाजिक रूढ़ियों के विरोध, मध्ययुगीन नैतिकता से मनुष्य की मुक्ति, मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं का सामना करने के आह्वान में निहित है। अनेकों भारतीय लेखकों का ध्यान पाश्चात्य रूमानी कला ने आकर्षित किया। इस धारा के महानतम लेखक रवींद्रनाथ टैगोर थे, जिन्होंने शैली, बायरन, कीट्स, वर्ड्सवर्थ वह दूसरे अंग्रेजी रोमानी लेखकों रचनात्मक अनुभव को ग्रहण किया। टैगोर का कृतित्व न केवल बांग्ला, बल्कि भारत के अन्य साहित्यों के वैचारिक-कलात्मक नवीनीकरण करने, नए मानववाद से समृद्ध करने व नई रचनात्मक पद्धतियों व प्रवृत्तियों को विकसित करने, जीवन से अपने संबंध विस्तृत व सुदृढ़ करने में बहुत सहायक रहा। कृष्ण कृपलानी ने लिखा है कि "टैगोर ने भारतीय साहित्य को वास्तव में समकालीन बताया।" अनेक भारतीय रचनाकार इस महान बांग्ला कवि से अपने कवि कर्म में प्रेरणा लेते रहे हैं। 20वीं शताब्दी के आरंभ से ही भारतीय साहित्य में, विशेषकर कविता में, रोमांटिसिज़्म प्रमुख धारा बन जाता है। उसमें प्रतीकात्मक रूप में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग का आध्यात्मिक विकास,

मातृभूमि की स्वतंत्रता के विषय में उसका चिंतन, पुरातन से गहरी निराशा व नये यातनापूर्ण तलाश प्रतिफलित हुई। रवीन्द्र नाथ टैगोर (बांग्ला) जयशंकर प्रसाद व सुमित्रानंदन पंत (हिंदी) केशवसुत व रंदात्कर (मराठी), पुंजलाल (गुजराती), हितेश्वर (असमिया), वेकुंत पटनायक (उडिया) अथर शिरानी व मजाज (उर्दू), भाई वीर सिंह (पंजाबी) जैसे देश के विभिन्न भागों के कवियों के कृतित्व में मनुष्य के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास व सामंजस्यपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की खोज जैसी विषय वस्तु ने भारतीय कविता की शैली, रचना-विधान, कलात्मक साधनों की व्यवस्था में युगांतकारी परिवर्तन लाए।

अनेक रोमानी कवियों की रचनाओं में अक्टूबर क्रांति के प्रभावित राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के उत्थान की मनरुस्थिति प्रतिफलित हुई। क्रांतिकारी विचारों पर रचनात्मक चिंतन ने तीसरे और चौथे दशक की साहित्य प्रक्रिया को विशेषरूप से प्रभावित किया। प्रमुख कवियों की रचनाओं में जुझारू श्रमिक जन गौरवान्वित होने लगते हैं। सौंदर्यपरक आदर्श के रूप में श्रमिक वर्ग का साहित्य में स्थापित होना भारत में समाजवादी व साम्यवादी विचारों के प्रसार ने संभव बनाया। इस तरह के विचार तीसरे और चौथे दशक में नजरूल इस्लाम (बांग्ला), सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (हिंदी) जोश मलिदाबादी (उर्दू) जैसे भारतीय साहित्य में क्रांतिकारी रोमांटिसिज़्म के प्रवर्तक कवियों की रचनाओं में सर्वाधिक स्पष्टता के साथ प्रकट हुए। क्रांतिकारी रोमांटिसिज़्म की प्रवृत्तियों की झलक मुहम्मद इकबाल (उर्दू) सुब्रमण्यम भारती (तमिल) तथा पांचवे व छठे दशकों में सुकांत भट्टाचार्य व विष्णु डे (बांग्ला) रामधारी सिंह दिनकर, नरेंद्र शर्मा

(हिंदी), हसरत मोहानी, इसार उत्तहक मजाज़, अली सरदार जाफरी (उर्दू) विनायक सावरकर (मराठी) व शंकर कुरुप (मलयालम) जैसे लेखकों की रचनाओं में भी दिखाई देती है।

तीसरे और चौथे दशक के आरंभ में भारत की समाजिक-राजनैतिक, आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ साहित्य में भी गांधीजी के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। कृष्ण कृपलानी के शब्दों में गांधीजी ऐसी प्रेरक शक्ति थे, जिसने “साहित्य के विकास में रोमांटिसिज्म से यथार्थवाद में, आत्म प्रशंसा से आत्म-विश्लेषण की ओर रूपांतरण लाया।” तभी भाषाओं के छोटे-बड़े कवि असहयोग आंदोलन में शामिल हुए। अपनी रचनाओं में उन्होंने मेहनतकश जनता की हालत का चित्रण किया, और अपनी रचनाओं में आत्म बलिदान के आदर्शों को गौरवान्वित किया।

भारतीय साहित्यों में इस बीच एक नई समानता दृष्टिगोचर होने लगी, समाज के निम्न वर्गों के मनुष्य का साहित्य का नायक बनाना, ऐसा नायक जिसे अपनी मानवीय गरिमा व नैतिक मूल्यों का पूरा एहसास हो।

साहित्य में जनवादी मूल्य

जनवादी मूल्यों पर आधारित भारतीय साहित्य की एकता व उनमें यथार्थवाद विकास में 1936 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रगतिशील आंदोलन, जिसे उन्नत सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन व उपनिवेश विरोधी और समाजवादी विचारधारा में सशक्त आधार मिला, ने देश के साहित्य को प्रगतिशील नायक का प्रादुर्भाव भारतीय लेखकों पर गोर्की के प्रभाव के कारण संभव हुआ। यह प्रभाव अधिकतर प्रेमचंद (हिंदी), मुल्कराज आनंद (अंग्रेजी), कृष्णचंद्र (उर्दू), शंकर पिल्लई तवेजी (मलयालम) की रचनाओं में फलीभूत हुआ।

पांचवें दशक तक भारतीय साहित्य में विशेषकर कविता में आलोचनात्मक यथार्थवाद अपनी जड़ें जमा चुका था। इस रचनात्मक पद्धति के परिणाम स्वरूप टैगोर, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद जैसे लेखकों द्वारा उठाई गई किसानों की गरीबी, उनके असंतोष, पूंजीवादी समाज के अंतर्विरोध, बुद्धिजीवी वर्ग की बिगड़ती आर्थिक हालत जैसी विषयवस्तु भारत के सभी साहित्य की प्रमुख विषय वस्तु बन जाती है।

स्वाधीनता प्राप्ति के परिणामस्वरूप भारतीय जनमानस में नई आध्यात्मिक ऊर्जा का संचार हुआ, जिसने साहित्य में नई प्रक्रियाओं को जन्म दिया, उसके विकास की गति को तेज किया व उसने वृहत राष्ट्रीय एकता को मजबूत किया। भारत की सांस्कृतिक एकता के वस्तुपरक उपादानों से प्रेरित होकर जनवादी शक्तियों ने अपने स्वाधीन विकास के प्रथम चरणों में ही देश की सांस्कृतिक एकीकरण की समस्या का राष्ट्रीय संस्कृतियों की पारस्परिक समृद्धि व विकास के अनुरूप समाधान खोजने की कोशिश की। इस काम में जवाहरलाल नेहरू ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनकी पहल और नेतृत्व में देश की सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया को गहरा व तेज करने के लिए अनेकों कदम उठाए गए, जिनमें साहित्य अकादमी, नृत्य, संगीत व नाटक अकादमी, कला अकादमी की स्थापना कला समारोहों का आयोजन इत्यादि प्रमुख हैं। नेहरू की नीतियों का समर्थन करने वाले उन भारतीय विद्वानों में डॉ. नगेंद्र प्रथम व्यक्तियों में से एक हैं जो भारतीय बहुजातीय साहित्य की अवधारणा को सैद्धांतिक आधार प्रदान करते आ रहे हैं। वह यह बात बल देकर कहते हैं कि “भारत के सांस्कृतिक एकत्व के लिए सशक्त आत्मिक एकीकरण की आवश्यकता है, जो केवल

साहित्य के माध्यम से ही संभव है। जिस तरह निराशावादियों की भविष्यवाणियों के बावजूद एकीकृत भारतीय राज्य सुदृढ़ हो रहा है उसी तरह भाषागत विभिन्नताओं के बावजूद भारतीय साहित्य विकसित होता रहेगा।”

भारत के स्वतंत्र विकास के प्रथम चरण से ही उसके साहित्य में नए जीवन के निर्माण की आशाएं प्रतिफलित हुईं। भारतीय साहित्य विशेषकर कविता में आशावादी भावों चिरप्रतीक्षित स्वाधीनता प्राप्ति की सुखकर अनुभूतियों ने रोमानी धारा को जन्म दिया। पांचवें दशक के अंत व छठे दशक के आरंभ के वर्षों की विभिन्न भाषाओं की कविताओं में यह स्वर पूरी शक्ति के साथ मुखरित होता है कि दुनिया में ऐसी कोई ताकत नहीं है, जो भारतीय जनता के नए जीवन की ओर बढ़ते कदमों को रोक सके। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', शिवमंगल सिंह सुमन की रचनाओं का श्रेष्ठ उदाहरण है। स्वतंत्रता की चेतना अनुभूतियों की स्वतंत्रता की मांग करती है। रागात्मक कविता में आवेगों का वातावरण गहरा होने लगता है। प्रेम कविता नागरिक सरोकार की कविता भी मिल जाती है और उसमें मुख्यतः स्वतंत्रता संघर्ष के स्वर गूंजने लगते हैं। उदाहरणार्थ: हरिवंशराय बच्चन (हिंदी) अमृता प्रीतम व मोहन सिंह (पंजाबी) सुभाष मुखोपाध्याय (बांग्ला) विनोद चंद्र नायक (उडिया) इत्यादि।

अनेक कवियों की रचनाओं में प्राचीन मिथक महाकाव्यों के कथानक समकालीन प्रासंगिकता ग्रहण करते हैं। ऐसे कवियों में सुमित्रानंदन पंत व रामधारी सिंह दिनकर (हिंदी) पुंजलाल (गुजराती) बेंदरे व पुट्टम (कन्नड), नारायण रेड्डी (तेलुगु) जैसे नाम उल्लेखनीय हैं। गद्य की विधाओं, विशेषकर जिनमें भारती गांव का चित्रण

हुआ है, में यथार्थवादी हुआ स्वच्छंदतावादी अंतःक्रिया को सहज ही देखा जा सकता है। गांव की गरीबी के यथार्थपरक चित्रण के साथ-साथ ग्रामीण जीवन के आदर्शिकरण की प्रवृत्ति इस तरह की रचनाओं की विशेषता है। हिंदी में नागार्जुन का 'बालचान्मा' (1952), फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल' (1954), उदय शंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1955), बांग्ला उपन्यासकारों में ताराशंकर बंदोपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वतंत्र भारत के साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास विकास के नए चरण में प्रवेश करता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष की विषय वस्तु स्वाधीन भारत के विकास के पथ संबंधी चिंतन के साथ एकाकार हो जाती है। इसे हम हिंदी में वृंदावन लाल वर्मा, रागेय राघव, राहुल संकृत्यायन, बांग्ला में गोपाल हलदार, नारायण गंगोपाध्याय अच्छी तरह देख सकते हैं।

पचास के वर्ष के अंत तक भारतीय साहित्य के विकास की परिस्थितियों में अंतर आने लगता है, उसमें विचारात्मक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक प्रतिफलित होने लगती है। लेखकों, नई साहित्यिक धाराओं व आंदोलनों में सीमा रेखाएं बननी शुरू हो जाती हैं। लेखकों के साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे में फूट के बीज डालने में नव-उपनिवेशवादी विचारधारा का प्रचार सफल हो जाता है। साहित्य में परंपरावादी प्रवृत्तियां जोर पकड़ने लगीं। परंपरावादी साहित्य से प्रगतिशील लेखक लगातार जूझते आ रहे हैं। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, "घृणा और भय फैलाने और धर्म के नाम पर फूट डालने वाले कचरे को साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती।"

स्वाधीनता प्राप्ति ने देशवासियों के मन में अनेक आशाएं जगाई थीं। पर छठे दशक के अंत तक नए भारत के निर्माण से जुड़े आदर्शों का टूटना आरंभ हुआ। परिणामतः भारतीय साहित्यकारों के बीच निराशा और हताशा का वातावरण निर्मित होने लगा। इस मनःस्थिति ने अस्तित्ववाद व बुर्जुआ हासवाद के दर्शन से प्रभावित तरह-तरह की आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया। इन प्रवृत्तियों ने भी एक तरह से आधुनिक आधार पर विभिन्न साहित्यों को एकत्व प्रदान करने की कोशिश की। मनुष्य और सामाजिक परिवेश के बीच के अंतर को स्वभाविक और वास्तविक घोषित किया जाने लगा। लेकिन आधुनिकतावादी कला भारतीय जनमानस को संतुष्ट नहीं कर सकी। 1969 में प्रभाकर माचवे ने लिखा कि “अब अस्तित्ववाद च अवागारदिज्म आंदोलन से संबद्ध लेखक आत्मनिष्ठ सौंदर्यशास्त्र की सीमाओं से अधिकाधिक बाहर आने लगते हैं। अब अपने देशवासियों की चिंताएं उनकी रचनाओं की विषय वस्तु में केंद्रीय स्थान ग्रहण करने लगती हैं।” एक समय जो आधुनिकतावादी प्रवृत्ति यां अपने विद्रोही स्वभाव, मौलिकता वह काव्यात्मक नवीनता के कारण आकर्षक लगी थी अब सामाजिक प्रतिबद्धता के अभाव व एक ही जैसे विषयों के दुहराव के कारण पाठकों को उनसे ऊब होने लगी है। इस संबंध में राजीव सक्सेना का कहना है कि “कविता के तथाकथित विद्रोही प्रवृत्तियां क्षीण पड़ गई हैं, उनका स्थान सामाजिक क्रांति व श्रमिक जन-समुदाय के हितों से जुड़ी नई तरह की कविता ने ले लिया है। जिस मेहनतकश आदमी को आधुनिकतावादी लेखकों ने साहित्य से बाहर निकाल दिया था अब फिर हिंदी गद्य में वापस आ रहा है।” हाल ही के वर्षों में हिंदी साहित्य में ही नहीं, बल्कि

समस्त भारतीय साहित्यिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ रहे हैं। श्रीनिवास आर्यंगर मानते हैं कि “अन्य भारतीय साहित्यों की जो स्थिति है वह हिंदी साहित्य की स्थिति से बहुत अधिक भिन्न नहीं है।”

आत्मनिर्भर विकास के प्रथम चरणों के साथ ही न्यायसंगत व स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में समर्थ पद्धति के रूप में समाजवाद में भारतीयों की रुचि गहरी होने लगती है। प्रगतिशील चिंतन व साहित्य के निर्माण को सशक्त विचारधारात्मक व मानसिक आधार प्रदान करने में भारत को नैतिक व व्यावहारिक समर्थन प्रदान कर रही विश्व समाजवादी व्यवस्था की उल्लेखनीय भूमिका रही है। चालीस के अंतिम वर्षों में विभिन्न भाषाओं के साहित्यों में तीव्र राजनैतिक अंतर्वस्तु से परिपूर्ण ऐसी कृतियां प्रकाशित हुईं जिनमें मेहनतकश जनता की बढ़ रही वर्ग चेतना प्रतिफलित हुई। इस तरह की कृतियों के लेखकों में यशपाल व अमृतराय (हिंदी), कृष्ण चंद्र व अली सरदार जाफरी (उर्दू), गोपाल हलदार व सुभाष मुखोपाध्याय (बांग्ला), नाना दजोग (मराठी), मुल्क राज आनंद (अंग्रेजी) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस तरह की प्रवृत्ति के साहित्य को समाजवादी उन्मुखता के साहित्य का नाम देना, हमारी समझ में, संभव है। लेखकों के सामाजिक जीवन के साथ संबंधों, उनकी वर्ग चेतना व कला चेतना, उनकी विचारधारा व विश्वदृष्टि, देश व विश्व में हो रही घटनाओं की उनकी समझ के स्तर के अनुरूप समाजवादी उन्मुखता के साहित्य के रूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

प्रगतिशील साहित्य की स्थिति सुदृढ़ करने में पिछले पच्चीस वर्षों से अफ्रीकी व एशियाई लेखकों के आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही

है। भारत के बहुत से प्रसिद्ध लेखक इस आंदोलन में सक्रिय भाग ले रहे हैं और सोवियत व विश्वभर के प्रगतिशील साहित्य के अनुभव को आत्मसात कर रहे हैं। इस अनुभव की छाप रचनाकारों के बढ़ते हुए नागरिक सरोकार सामाजिक जीवन में हो रही घटनाओं के उनके वस्तुनिष्ठ व इतिहास सापेक्ष मूल्यांकन में देखी जा सकती है।

बहुजातीय भारतीय साहित्य के निर्माण में भारत में विकसित हो रहे साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के विकास का विशेष महत्व है। इस क्षेत्र में सुव्यवस्थित अध्ययन का आरंभ बुद्ध देव बोस की पहल पर हुआ जिन्होंने 1956 में जादवपुर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य अध्ययन के विभाग की स्थापना की। बहुत वर्ष पहले 1906 में कलकत्ता में रवींद्रनाथ टैगोर ने साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन पर व्याख्यान दिया था जिसमें उन्होंने संकीर्ण प्रांतीयता छोड़ने व लेखकों के कृतित्व का मूल्यांकन वृहत्तर साहित्यिक प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में करने का आह्वान किया था। आजकल इस विभाग के अध्यक्ष प्रो. नरेश गुहा हैं जो मलयाली विद्वान के०एम० जॉर्ज के साथ 'इंटेग्रेल हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर' पुस्तक पर काम कर रहे हैं। लेकिन अभी तक अपने अध्ययन में बहुत कम विद्वानों को क्षेत्र विशेष के साहित्य की सीमाओं से बाहर आने में सफलता मिल सकी है। उनके बीच पारंपरिक अध्ययन पद्धति के प्रति असंतोष के स्वर अक्सर सुनाई देते हैं।

साहित्य अध्ययन की तुलनात्मक पद्धति आधुनिक भारत में जोर पकड़ रही है। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय साहित्य के विचारधारात्मक व सौंदर्यात्मक एकत्व की समस्या में भारतीय विद्वानों की रुचि व

तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य के अनेक अछूते पक्ष उजागर हो सकेंगे। भारतीय समालोचना में भारतीय साहित्य के भावी चरित्र के संबंध में तरह-तरह के पूर्वानुमान लगाए जा रहे हैं। प्रगतिशील रचनाकार व आलोचक भारतीय साहित्य के भविष्य को समाज के साथ मजबूत हो रहे साहित्य के संबंधों, उनमें यथार्थवाद के विकास, कलात्मक श्रेष्ठता की परिपूर्णता से जुड़ा हुआ देख रहे हैं। समकालीन साहित्य के विषय में अरुण कमल द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में सुभाष मुखोपाध्याय ने यह रेखांकित किया है कि लेखकों की कृतियों में औद्योगिकरण व जन-आंदोलनों के प्रतिफलन के साथ-साथ भारतीयता अधिकाधिक स्पष्ट हो रही है।

बहुजातीय भारतीय साहित्य अभी अतीत के भारतीय साहित्यों के श्रेष्ठ मूल्यों, विश्व के प्रगतिशील साहित्य के अनुभव व अपनी मानववादी परंपराओं को आत्मसात् करते हुए विकसित हो रहा है। राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक प्रगति, शांति व जनमैत्री के लिए संघर्षशील लोकतांत्रिक शक्तियों की एकता भारतीय साहित्य के फलप्रद विकास की निश्चित गारंटी है।